

काव्य की आत्मा

भारतीय काव्य-चिन्तन में काव्य की आत्मा का विवेचन एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। 'आत्मा' का शाब्दिक अर्थ 'जीवन तत्व', 'चेतना' आदि माना जाता है। जिस प्रकार शरीर बिना 'प्राण' के गतिहीन हो जाता है, उसी प्रकार काव्य की दशा होती है। काव्य में 'आत्मा' शब्द से अभिप्राय काव्य तत्व अथवा 'सार' है, जिससे अहृद्य पाठक को काव्य के उद्देश्य और आनन्द की प्राप्ति होती है।

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम आठवीं सदी में आचार्य रामानुज ने 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हुए लिखा था -

"रीतिरात्मा काव्यस्य"

इनके उपरान्त आनन्दवर्द्धन ने नवी सदी में 'द्वयनि' को काव्य की आत्मा मानते हुए लिखा - 'द्वयनिरात्मा काव्यस्य'

आचार्य पण्डित विश्वनाथ ने 14वीं सदी में कहा -
'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

अर्थात् 'वाक्य में रस का होना' अर्थात् रसयुक्त वाक्य काव्य की आत्मा है। आचार्य कुन्तक ने इनके पहले ही बारहवीं सदी में वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए 'आत्मा शब्द' के स्थान पर जीवित शब्द का प्रयोग किया है।

"वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम्।"

भामह, दंडी, और उद्भट के अनुसार यह काव्य तत्व 'अलंकार' था। 'आत्मा' शब्द सर्वमान्य नहीं था, किंतु यह धारणा प्रबल रूप में मान्य हो चली थी कि काव्य में कोई न कोई तत्व सार रूप में अनिवार्यतः विद्यमान रहना है।

'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्धु ने इन सम्प्रदायों के चिन्तकों के तत्त्विक आधार पर भी विचार किया है। इनके अनुसार विशिष्ट शब्द और अर्थ का सद्भाव ही काव्य है - 'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्'। शब्द और अर्थ की विशिष्टताकीन माथा है - धर्ममूलक, व्यापारमूलक, अंगु मूलक। इस प्रकार काव्य की आत्मा के अनुसंधान क्रम में 'अलंकार', 'रीति', 'वक्रोक्ति', 'रस' और 'द्वयनि' इन पाँच सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई।